भक्तिका चमत्कार
अखण्डानन्द सरस्वती

पूज्य महाराजश्रीके १००वें जन्म दिवस पर, सामूहिक प्रार्थना

अर्चापूजन गुरुचरणों का करते हैं, स्वीकार करें प्रभु!
भक्ति अपनी देकर हमको, भवसागर से पार करें प्रभु!

षट् रिपु निशदिन हावी हम पर, चैन न लेने देते थे ये।
मिले आप मंगल-ही-मंगल, शान्त हुआ मन, चित्त है निर्मल।।
करुणामय उपदेश आपका, भ्रान्ति मिटाकर 'ज्ञान' है देता।
फिर भी श्रम करना ही होगा, अप्रमेय 'वस्तु' है निष्कल।।
अर्चापूजन गुरु चरणोंका.....

श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना होगा हमको नित्य निरन्तर।
'माया' कुछ न बिगाड़ सकेगी, गुरुदेवका कर है सिरपर।।
गुरु-किरपा कटाक्ष मात्र से, बन्धन सब कट जाते मित्रों!
ध्यान गुरुदेवका धर के, नमन करें उनके विग्रह को।।
अर्चापूजन गुरु चरणोंका.....

सुन्दर परिसर है आश्रमका, गुरुके प्रियजन आते रहते।
यद्यपि घर में सारी सुविधा, फिर भी गर्मी-सर्दी सहते।।
वातावरण भक्तिमय निर्मल, सत्सङ्गका आनन्द मनोहर।
आनन्दमय 'आनन्द-वृन्दावन', सारे प्रेमीजन यह करते।।
अर्चापूजन गुरुचरणोंका.....

विस्मित सब प्रेमी साधकजन, 'सत्साहित्यके चमत्कार से।
सी.डी., डी.वी.डी., एम.पी.थ्री, 'आनन्द प्रस्तुति' के प्रताप से।।
कृपा निरन्तर बरस रही है, 'भागवत-सत्र' अनूठा है प्रभु!
आत्मकृपा करलें इतना बस, इष्टदेवके नाम-जाप से।।
अर्चापूजन गुरु चरणोंका.....

बारम्बार प्रणति करते हम, वृन्दावनकी इस भूमि को।
भक्तजनों को, तरु, गौओंको, 'आनन्द-वृन्दावन' की रज को।।
'आनन्द-महोत्सव' के उत्सव पर, भाव निवेदित करते हैं हम।
मिले आपकी भक्ति सबको, अर्जी अर्पित करते हैं हम।।
अर्चापूजन गुरु चरणोंका.....

नृत्यगोपाला आनन्दकन्द! सदगुरु स्वामी अखण्डानन्द!!

भक्तिका चमत्कार

•

अनन्तश्री विभूषित

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

•

प्रकाशक :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई / वृन्दावन

प्रकाशक :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल'
28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2540561, 3292119
2913043, 2540487

●

प्रथम संस्करण : 1100
आनन्द जयन्ती (जन्म शताब्दी)
30 जुलाई 2011

●

मूल्य : 20/- रुपये मात्र

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

अनुक्रम

	पृष्ठ
प्रवचन : 1 :	
ईश्वर-दर्शन सम्भव है	3
प्रवचन : 2 :	
भगवद्दर्शनमें ध्यानकी उपयोगिता	23

●

प्राक्कथन

परमपूज्य महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीके जबलपुर के प्रवचन साधकके जीवनके लिए क्रान्तिकारी हैं–इन प्रवचनोंका आयोजन 1960-70 के दशकमें सेठ गोविन्ददासजीने कराया था!

इन प्रवचनोंका संकलन श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान एवं साध्वी कंचनने बड़े मनोयोगसे करना प्रारम्भ किया है। उन्हीं प्रवचनोंके एक अंशका प्रकाशन जिसका संकलन 'साध्वी कंचनजी' द्वारा हुआ है–'भक्तिका चमत्कार' नामसे आपके कर-कमलोंमें शोभायमान है।

महाराजश्री की कृपापात्र कु. उषा, शान्ता, ज्योति-ठाकुरदास तुलजाराम महतानी, मुम्बईके हम विशेष आभारी हैं, जिन्होंने इसके प्रकाशनमें आर्थिक सहयोग दिया है।

–ट्रस्टी

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

भक्तिका चमत्कार

प्रवचन : 1

ईश्वर-दर्शन सम्भव है

एक बार डॉ. पन्नालालने पाँच विकल्प सामने रखे थे-(1) विराट्में ईश्वरबुद्धि हो जाय और उसकी सेवा होने लगे तो क्या यही ईश्वरकी प्राप्ति है? विराट् माने सर्वरूपमें भगवान् प्रकट हैं, सबके प्रति शुद्ध हृदयसे सेवाका भाव हो, राग-द्वेष न हो, पक्षपात न हो, अन्याय न हो, क्रूरता न हो; सद्भावसे सबकी सेवा हो तो क्या यह ईश्वरकी प्राप्ति है?

(2) दूसरा विकल्प यह रखा कि यदि अपने जीवनमें सद्गुणोंकी प्रतिष्ठा हो जाय-उत्तम-उत्तम गुण अपने जीवनमें आ जाँय। सम्यक् चारित्र्य, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-समाधि-जैन लोग जिसको 'त्रि-रत्न' कहते हैं। तो वे अपने जीवनमें आ जायें तो क्या यही ईश्वरकी प्राप्ति है ?

(3) अथवा बौद्ध-लोग मानते हैं कि समाधि लग जाय और वासनाओंका उच्छेद हो जाय। तो जन्म-मरणके प्रवाहकी हेतु हैं वासनाएँ। यदि चित्त बिलकुल निर्वासनिक हो जाय तो क्या ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है? निर्वाण अथवा निर्वासनिकता ही ईश्वरकी प्राप्ति है?

(4) चौथा विकल्प उनका यह था कि जैसे वेदान्ती लोग वाच्यार्थका तिरस्कार करके लक्ष्यार्थमें एकता मानते हैं, तो लक्ष्यार्थके ऐक्यके बोधसे अखण्ड-ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है; तो क्या यही भगवान्का दर्शन है?

(5) पाँचवाँ विकल्प उनका यह था कि हमारे भक्तलोग मानते हैं कि जैसे माता अपने बेटेसे मिलती है, अपनी गोदमें लेकर बेटेको दूध पिलाती है; जैसे मित्र अपने मित्रके कन्धेपर हाथ रखकर चलता है; जैसे पत्नी अपने पतिसे मिलती है—इस प्रकार व्यावहारिक-जीवनमें इतनी ठोस प्राप्ति जैसे जाग्रत्-अवस्थामें हमें अपने सगे-सम्बन्धियोंकी होती है, क्या ऐसी ही ईश्वर-प्राप्ति होती है और इसीका नाम ईश्वर-प्राप्ति है?

नारायण, संक्षेपमें मैं पाँचोंके बारेमें सुनाता हूँ। देखो, विराट्की सेवाका फल अन्तःकरणकी शुद्धि है। तो विराट्की सेवा स्वयंमें फल नहीं है। विराटकी सेवा होगी बाहर और उसका फल होगा हृदयमें। सेवा साधन है और हृदयकी शुद्धि फल है।

सद्गुणोंका फल भी अन्तःकरणकी शुद्धि है और निर्वासनिक समाधिकी भी अन्ततोगत्वा यही स्थिति है कि विज्ञानकी धारा निर्वासनिक होवे।

वेदान्तियोंकी जो एकता है, वह तत्त्व-दृष्टिसे है। जहाँतक वेदान्त-शास्त्रका प्रश्न है, व्यवहारमें वे एकताको नहीं मानते हैं। केवल परमार्थमें, केवल तत्त्वदृष्टिसे एकताको स्वीकार करते हैं और एकताका बोध तात्त्विक-दृष्टिसे फल है। परन्तु, जो तत्त्व हमारी आँखके भीतर, हृदयके भीतर, हमारे 'मैं'के भीतर छिपा हुआ है; उस 'मैं'का बाहर प्रकट होकर दीखने लग जाना। समस्त शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव-जितने भी ईश्वरवादी वैदिक-सम्प्रदाय हैं, (जो लोग ईश्वरको केवल एक भाव निराकार रूप मानते हैं, उनको छोड़कर) माने जो ईश्वरको जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण माननेवाले सम्प्रदाय हैं, वे ईश्वरका बाहर प्रकट होकर दीखना स्वीकार करते हैं। स्वयं ईश्वर ही जगत्के रूपमें प्रकट होता है। तो जो ईश्वर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके रूपमें अनादिकालसे प्रकट होता है और नित्यरूपसे रहता है, वह ईश्वर व्यक्तिके रूपमें प्रकट नहीं हो सकता—यह कहना तो ईश्वरके सम्बन्धमें

सम्पूर्णदृष्टि कभी नहीं हो सकती। क्योंकि ईश्वर ही सम्पूर्ण जगत्के रूपमें प्रकट होता है, इसलिये वह व्यक्तिके रूपमें भी प्रकट हो सकता है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, इसलिये भी व्यक्तिके रूप प्रकट हो सकता है। और ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिये भी व्यक्तिके रूपमें प्रकट हो सकता है।

सर्वज्ञका क्या अर्थ है? श्री वैष्णवाचार्योंने यह प्रसंग लिया कि हमारे हृदयमें यह वासना है कि हम ईश्वरका दर्शन करें।

'बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ,
जो साँवरो छाँड़ि, निहारति गोरो।'

हमारे हृदयमें ईश्वरके दर्शनकी प्यास है, ईश्वरके दर्शनके लिये व्याकुलता है। अब प्रश्न यह है कि ईश्वरको यह मालूम है कि नहीं? यह सर्वज्ञताकी बात सुनाते हैं। तो ईश्वर तो हमारे हृदयमें ही है और हृदयकी प्यासको हमारी वासनाको समझता है। समझनेपर पूरी क्यों नहीं करता? हमारी इस लालसाको–

एक लालसा मनंमा धारूँ।
वंशीवट, कालिन्दीतट नटनागर नवल निहारूँ।।

हमारे व्याकुल हृदयकी इस तीव्र लालसाको ईश्वर जानता है कि नहीं? और, यदि जानता है तो उसको पूरी क्यों नहीं करता? या तो कहो कि ईश्वरको इतनी दया नहीं है कि वह हमारी यह प्यास बुझा दे। इतना वह क्रूर है, इतना वह कठोर है, इतना वह स्व-निष्ठ है कि हम तो जैसे हैं, वैसे ही रहेंगे; हम तुम्हारी लालसाका कोई आदर नहीं करते। तो या तो ईश्वर में साकार होनेकी शक्ति नहीं है; या तो ईश्वरमें इतनी दया नहीं है; या तो ईश्वर इतना आग्रही है! वह क्यों नहीं जीवकी इस लालसाको पूरी कर सकता? जबकि जीवके हृदयमें यह लालसा होती है कि हम ईश्वरका दर्शन करें।

अब कोई कह दे कि नहीं, चित्तमें दर्शनकी लालसा ही नहीं होती। तो यह बात गलत है। हमको अबतक सैकड़ों-हजारों व्यक्ति

ऐसे मिले हैं, जिन्होंने ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करनेके लिये सच्ची लालसा की है और हमारी जानकारीमें ऐसे बहुतसे लोग आये हैं जिनको भगवान्का दर्शन हुआ है। और, ऐसे लोग आये हैं जिनके बारेमें हमको विश्वास नहीं करना है कि इनको दर्शन हुआ है। विश्वासकी बात दूसरी होती है और जानकारीकी बात दूसरी होती है।

तो पहली बात यह है कि भगवान्की अभिव्यक्तिका जो मार्ग है, इस सम्बन्ध में '**परित्राणाय साधूनाम्**'के सम्बन्धमें श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने जो लिखा है, पहले आपको वह सुनाता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

गीता 4.8

भगवान् कहते हैं कि मैं संभवन-क्रियाको स्वीकार करता हूँ। 'संभवन'का अर्थ यह है कि जैसे मनुष्यके घरमें बालक पैदा होता है, ऐसे मैं इस पृथ्वीपर, इस विश्व-ब्रह्माण्डमें प्रकट होता हूँ। क्यों प्रकट होते हो? तो प्रश्न आया कि साधुओंकी रक्षा करनेके लिये और दुष्कृतोंका संहार करनेके लिये। पहले अवतारवाली बात समझ लेनेपर प्रत्यक्ष होनेवाली जो बात है, उसको समझनेमें सुगमता मिलेगी।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने प्रश्न उठाया कि आप महाराज जहाँ बैठे हैं वहींसे, निराकार रूपमें रहते हुए एक संकल्प कीजिये कि सृष्टिमें कोई दुष्ट ही पैदा न हो। दुष्टको मारनेके लिये आप अवतार क्यों लेते हैं? बोले कि ठीक है, ऐसा संकल्प तो हम कर सकते हैं। पर यह सृष्टिकी लीला तो दुष्टता और शिष्टता-दोनों प्रकारके जो कर्म हैं, उनसे चलती है। अच्छा तो आप वहींसे संकल्प कीजिये कि शिष्टोंकी रक्षा हो जाय, साधुओंकी रक्षा हो जाय। इसमें अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता है? संकल्पसे ही धर्मकी रक्षा, संकल्पसे ही दुष्टोंका विनाश, संकल्पसे ही साधुओंकी रक्षा! श्रीरामानुजाचार्यजी

महाराजने यह प्रश्न उठाया कि 'परित्राणाय साधुनां'-साधुओंके परित्राणके लिये भगवान् कष्ट क्यों करें? तो भगवान्‌ने कहा कि साधु परित्राण और दुष्ट विनाश–यह तो मेरे अवतारका आनुषंगिक फल है। जब मैं प्रकट होता हूँ तो यह लीला करता ही हूँ। परन्तु, यशोदामाता मुझे अपना लाला बनाये बिना नहीं रह सकती, ग्वाल-बाल हमारे कन्धे पर हाथ रखे बिना नहीं रह सकते, गोपियाँ हमको अपने प्रियतम पतिके रूपमें प्राप्त किये बिना नहीं रह सकतीं। हमारे संकल्पसे उनकी इच्छा पूरी कैसे हो? तो हम अपने भक्तकी सेवा भी नहीं कर सकें? श्रीमद्भागवत्‌में आता है, **'भगवान् भक्त भक्तिमान्'**–भगवान् कैसे हैं? अपने भक्तोंकी भक्ति करते हैं। यदि भगवान् अपने भक्तोंकी इतनी भक्ति न करें, इतना वात्सल्य भगवान्‌के हृदयमें न होवे, वे यदि अपने भक्तोंकी सहायता न करें, यदि उनके कार्यका निर्वाह न करें; वे सृष्टिके रूपमें तो प्रकट हो जायें, परन्तु भक्तोंके प्यारेके रूपमें प्रकट न हों, तो भक्तोंके प्यारेके रूपमें प्रकट न होनेसे सृष्टिके रूपमें प्रकट होना भी व्यर्थ हो जाता है।

नारायण, आखिर सृष्टिके रूपमें लोगोंको कर्म-फलका भोग देनेके लिये प्रकट हुए कि लोग हमको धनके रूपमें भोगें, लोग हमको विषयके रूपमें भोगें। समाधिमें लोग हमारा भोग करें, लोग हमको आत्माके रूपमें जानें–इसके रूपमें तो भगवान् अपनेको प्रकट करें और जो उनके सच्चे प्रेमी, सच्चे प्यासे भक्त हैं–उनकी लालसाको पूरी करनेके लिये यदि भगवान् प्रकट न होवें तो भगवान्‌की दयालुता पर कौन विश्वास करेगा कि भगवान् दयालु हैं।

तो देखो, इसमें सबकी संगति है।

सगुण अथवा साकार ईश्वरके सम्बन्धमें इतनी बात ध्यान रखनेकी होती है कि जीवको केवल उन्मुख होकर बैठना पड़ता है।

स्वयंमुखे तु जिह्वादौ, स्वयमेव स्फुरत्यदः।

अपनी जीभको खाली कर दो। राग-द्वेष सूचक शब्दोंको जिह्वासे

उच्चारित मत करो। अपनी जिह्वाको स्वच्छ बना दो और सेवा करनेके लिये जब जिह्वा उन्मुख होती है, तब उसपर भगवान्का नामावतरण होता है। और, जब हृदय खाली होता है, तब उसमें भगवान्का रूपावतार होता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्के दर्शन कैसे होते हैं, इस बातको लेकर भी प्रसंग आये हैं। जो भिन्न-भिन्न भक्तोंके सन्मुख प्रसंग आये हैं, उनको तो आप जानते ही हैं। अवतार कालमें नहीं। अब जैसे कर्दमके सामने भगवान् नारायण गरुड़ारुढ़ होकर प्रकट होते हैं तो यह अवतार-काल नहीं है। दक्षके सामने प्रकट होते हैं तो वह अवतारकाल नहीं है। भक्तोंके सामने प्रकट होते हैं। पर, कब होते हैं?

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितंजनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकः
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्।।

भागवत 1.8.36

हृदयमें जो छिपा हुआ रस है, उसको अपने जीवनमें प्रकट होने दो। आपको यह बात कई बार मैंने कही कि हृदयमें जो परिवर्तन होता है, वह केवल हुकुम देने भरसे नहीं होता है। केवल आज्ञा दे दी कि ए हृदय, तू शान्त हो जा। तो ऐसे शान्त नहीं होता। कुछ थोड़ी-सी क्रिया चाहिये। कुछ थोड़ी-सी वस्तु चाहिये। प्रारम्भमें कुछ थोड़ा-सा कर्तृत्व चाहिये। तब हृदयमें परिवर्तन होता है। वस्तु चाहिये, क्रिया चाहिये, शब्द चाहिये। अपने हृदयमें अमुक भाव उत्पन्न करने के लिये शब्दका प्रयोग करना पड़ता है। अपने हृदयमें विनयकी भावना उत्पन्न करनेके लिये हाथ जोड़ना पड़ता है। राम-कृष्णका स्मरण करनेके लिये नामोच्चारण करना पड़ता है। भगवान्के मनमें प्रसन्नता आ रही है, स्वाद आ रहा है-इसके लिये भगवान्के सामने भोग लगाना पड़ता है। भगवान् प्रेमके वशमें हैं-यह स्मरण करनेके लिये तुलसी डालनी पड़ती है। तुलसी इस बातका प्रतीक है कि भगवान् प्रेमके वशमें हैं।

देखो, लक्ष्मीजी ने वृंदाको शाप दे दिया कि जा, तू पौधा हो जा! जड़ हो जा! तो भगवान्ने कहा कि यदि हमारी वृंदा पौधा बन गयी है तो मैं पाषाण बन जाऊँगा। पौधेमें तो प्राण भी होते हैं, चेतना भी होती है; परन्तु मैं शालग्राम बनकर बैठूँगा और निरंतर इसको अपने सिरपर बैठाऊँगा। शंकरजीने गंगाको अपने सिरपर बैठाया और मैं तुलसीको अपने सिरपर धारण करूँगा और बिना इसके भोजन नहीं करूँगा।

तो भगवान् प्रेमके वशमें हैं—इस बातका प्रतीक है तुलसी; इस बातका प्रतीक है शालग्राम। सम्पूर्ण सृष्टिका बीज उसमें निहित है, ईश्वर है, नारायण है।

तो मंत्र चाहिये, क्रिया चाहिये, वस्तु चाहिये और उसके साथ-साथ भाव चाहिये। देखो आप, वस्तु बहिरंग है। उससे अन्तरंग शरीरमें रहनेवाली क्रिया है। उससे अन्तरंग मुखमें रहनेवाला शब्द है और उससे भी अन्तरंग हृदयमें रहनेवाला भाव है। इन चारोंको जब हम ईश्वरके साथ जोड़ते हैं तो क्या कहना!

मैं कई बार यह भी सुना चुका कि जो वस्तु इन्द्रयोंसे परे होती है, इन्द्रियातीत होती है, उसको जीवनमें उतारनेके लिये शब्दके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं होता है। शब्द भी निरर्थक शब्द नहीं—सॉय-सॉय, बॉय-बॉय शब्द नहीं—सार्थक शब्द। और, सार्थक शब्द भी नहीं, वाक्यात्मक शब्द—जैसे 'श्रीकृष्णः शरणं मम'—यह मन्त्र बोलते हैं।

तो 'शृण्वन्ति'—ईश्वरके बारेमें अधिक-से-अधिक श्रवण करो और जब बोलनेका अवसर आवे तो 'गायन्ति'। गानमें और बोलनेमें फर्क है। 'गायन्ति'का क्या अर्थ होता है? जो भावपूर्ण उद्गार हैं, उसको 'गान' बोलते हैं। जिसमें विरहकी वेदना नहीं है या जिसमें संयोगका सुख नहीं है, वह केवल स्वर और तालसे युक्त होनेपर ही गान नहीं हो जाता। केवल स्वर और तालसे युक्त किसी कविताका

गान करनेसे संगीत नहीं हो जाता। संगीतमें या तो विरहकी वेदना होनी चाहिये या तो संयोगके सुखका उद्‌गार होना चाहिये, नहीं तो संगीत संगीत नहीं बनता। तो भगवान्‌के सम्बन्धमें यदि श्रोता हो तो ऐसा गान करें कि जिससे हमारे हृदयकी वेदना, हमारी भावनाका उद्‌गार निकले और श्रोताके हृदयमें एक अतीन्द्रिय-वस्तुका आधान करें। माने जो चीज़ इन्द्रियोंसे दिखायी नहीं पड़ती, उस वस्तुके सम्बन्धमें हमारे हृदयमें एक भाव भर दे। और, जहाँ बोलनेका भी अवसर न हो और सुननेका भी अवसर न हो वहाँ अपने मनसे गुनगुनायें। 'गृणन्ति' गुनगुनाते रहें—

'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे,
'हे नाथ नारायण वासुदेव'।
'श्री राम जय राम जय जय राम'।

इससे क्या होता है? इससे हृदयमें भगवान्‌की स्मृति जगती है। इसको महात्माओंने ऐसे समझाया है कि स्मृतिसे भगवान्‌की आकृति हृदयमें उत्पन्न नहीं होती। जैसे हम भीतमें कोई गोल छेद कर दें तो उससे गोल आकाश दिखने लगता है। चौड़ा छेद कर दें तो चौड़ा आकाश दिखने लगेगा। वैसे जब हम भगवन्नामके द्वारा अपने हृदयमें जो जड़ता है, उसको दूर कर देते हैं तो नाम जिस ढंगसे जड़ताको दूर करता है उसी ढंगसे भगवान्‌की अभिव्यक्ति, भगवान्‌का प्राकट्य होता है। भगवान्‌के स्वतन्त्र रूप हैं और सब रूप नित्य होते हैं।

आपको एकबार की बात सुनाता हूँ। मैं और श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र'-दोनों बिहारमें ऐसे ही घूम रहे थे। ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा तो थी-ही-थी। बिहारमें उन दिनों डाके पड़ते थे, चोरोंका भय था। अंग्रेजोंके राज्यमें लोग खुफिया पुलिस समझ बैठते थे तो पिटाई कर देते थे। एक दिन हम लोगोंको कहीं जगह नहीं मिली। जहाँ जायें, गाँववाले कहें कि नहीं-नहीं, यहाँ नहीं। चले जाओ यहाँसे। अन्तमें हमलोगोंने बुद्धिमत्तासे विचार करके यह सोचा कि स्टेशनके प्लेटफार्म पर चलें और वहाँ सो

जायें। तो बख्तियारपुर और राजगिरिके बीचमें एक छोटा-सा स्टेशन हरनौत है, वहाँ रातको 10-11 बजेके करीब वहाँ पहुँचे। दिनभरके भूखे थे और चले थे 28 मील। जब जाकर अपना चदरा मुसाफिर खानेमें सोनेके लिये बिछाया तो हमारे पास दो बालक आये। न वहाँ स्टेशन मास्टर, न वहाँ डाकघर, न वहाँ थाना, न वहाँ बाज़ार। और उन दो बालकों ने आकर पूछा कि तुमलोग कुछ खाओगे? हमने कहा कि भूख तो लगी है। वहाँ तो नल भी नहीं था कि पानी लें और हमारे पास रस्सी भी नहीं थी कि कुएँमें-से पानी खींचें। तो उन्होंने कहा कि अच्छा, हम कुछ खानेको लाते हैं। कोई पाँच मिनटमें वे दो दोनेमें खोया भरकर ले आये। अब हम आपको क्या बतावे। अभी हमको उसका स्मरण होता है। न तो वैसे बालक हमने अपने जीवनमें कँभी देखे, न उतना सौन्दर्य, न उतनी सुशीलता, न उतना प्रेम, न उतनी मिठास और न तो वैसा खानेको खोया मिला।

नारायण, हम लोगोंने खोया खाया और उन लोगोंसे पूछा कि तुम लोग कहाँ रहते हो? बताये कि हमलोग यहीं रहते हैं। अब ऐसी लालच मनमें बैठी कि सवेरे देखकर चलेंगे। परन्तु सवेरे तो मालूम पड़ा कि न वहाँ किसी गृहस्थका घर है, न डॉक्टर है, न डाकघर है। स्टेशन मास्टरके कोई बच्चे नहीं हैं और वे भी जाकर दूर सोते हैं। वहाँ तो दिनमें एक-दो ट्रेन आ जाया करती थीं।

तो देखो, उस समय हमारे मनमें यह संकल्प नहीं था कि भगवान् हमारे पास आवें या किसीको प्रेरणा दें या किसीके द्वारा भोजन भेजें। कोई आशा नहीं थी। उस समय तो यह था कि कहीं सोने भरकी जगह मिल जाय तो हम दिनभरकी थकान तो मिटावें। परन्तु, भगवान्के अनुग्रहके सम्मुख क्या कहें। यदि वे बालक भगवान् नहीं थे तो देवता जरूर थे। और

'जिन आँखिन ते यह रूप लख्यौ,
उन आँखिन ते अब देखिये का।'

यह बात ज़रूर है कि उस समय हमारी बुद्धि ऐसी हो गयी थी कि हमारे मनमें यह भाव उदय नहीं हुआ कि ये भगवान् है भला! यह बात आपको अपनी बिलकुल स्पष्टम्-स्पष्टम् सुनाते हैं।

तो अब वहाँ किसका संकल्प काम कर रहा था?

तो नैयायिक लोग मानते हैं कि जो जगत्-कर्ता ईश्वर है, वह ईश्वर अपने संकल्प से ही रूपवान् होकर भक्तके लिये उसी समय प्रकट हो जाता है। न्याय पञ्चानन जो विद्वान् हैं विश्वनाथ आदि-वे इस प्रकारका मङ्गलाचरण करते हैं-

'नूतन जलधर रुचये, गोपवधूटी दुकूल चौराय'।

न्याय-चिन्तामणिमें इस प्रसंगपर विचार किया गया है कि इतना बड़ा नैयायिक, जो ईश्वरको निराकार मानता है परमाणुओंसे सृष्टि बनानेवाला मानता है, वह गोपीवस्त्रापहारक भगवान्‌की वन्दना ग्रन्थके प्रारम्भमें क्यों करता है? और टीकाकारोंने कहा कि ईश्वर निराकार है, यह बात हम मानते हैं। परन्तु, निराकार होनेपर भी जब जिस भक्तपर वह प्रसन्न होता है, उसके सामने अपनेको प्रकट कर देता है।

त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकः
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्।।

देखो, हम थोड़ी-सी आलोचना भी करना चाहते हैं। और, वह आलोचना बिलकुल भक्ति-शास्त्रके अनुसार है। उनके सामने यह प्रश्न आया कि यदि कोई अन्तर्मुख हो जाय और उसकी चित्तवृत्ति निर्विषय हो जाय-कोई विषय न भासे और यहाँतक कि जीव को जीवत्वका भान भी न होवे तो भक्ति-शास्त्रकी दृष्टिसे यह स्थिति क्या है? इसका भक्ति-शास्त्रमें विवेचन है। न केवल सम्प्रज्ञात-समाधि, असम्प्रज्ञात-समाधि भी लग जाय और असम्प्रज्ञातमें भी निर्विकल्प-समाधि लग जाय और निर्विकल्पमें भी निर्बीज-समाधि लग जाय तो भक्ति-शास्त्रकी दृष्टिसे यह क्या स्थिति है?

अब भक्ति-शास्त्रकी बात सुनाते हैं।

देखो, भक्ति-शास्त्रकी दृष्टिसे सब भक्तोंने यह माना है कि यह संसारकी निवृत्ति-दशा है। माने इसमें विषय निवृत्त हो गये, वृत्तियाँ निवृत्त हो गयीं, वासनाएं शान्त हो गयीं, चञ्चलता मिट गयीं, अहंकार शान्त हो गया-यह संसार शान्त हो गया। अच्छाजी, भगवान् मिले कि नहीं? नहीं, अभी भगवान् नहीं मिले। अभी एक जो भगवान्से अलग संसार है-उधरसे तुम्हारा हटना तो हो गया। विषय छूट गये, ठीक। इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो गयीं, ठीक। मनमें वासनाएं शान्त हो गयीं, बहुत बढ़िया। चञ्चलता, विक्षेप मिट गया-बहुत अच्छा। समाधि लग गयी, बहुत अच्छा। तुम ईश्वरके दरवाजेपर पहुँच गये। संसारमें जो रास्ता तय करना था, वह तुमने तय कर लिया। अब इसके बाद? भक्ति तो इसके बाद प्रारम्भ होती है।

नारायण, त्याग संसारका होता है और भक्ति भगवान्की होती है। तो यह समाधि-पर्यन्त तो संसारका त्याग है। भक्ति-शास्त्रमें यह विवेचन है। यहाँतक कि विश्वनाथ चक्रवर्ती, जीव गोस्वामीपादने कहा कि यदि संसारके मिथ्यात्वका भी किसीको ज्ञान हो जाय तो वह निष्काम होनेमें मददगार है। भक्ति तो संसारके मिथ्यात्वके ज्ञानसे निष्काम होनेके बाद प्रारम्भ होती है।

महाराज रामपँह जाऊँगो।
सुख स्वारथ परिहरि करिहों सोई, जेहि साहिबहिं सुहाऊँगो।।

अपना सुख, अपना स्वार्थ कुछ नहीं।

तो सेवाका अधिकार कब होगा? जब ड्यौढ़ीके भीतर जायेंगे। और, ड्योढ़ीके भीतर कैसे जायेंगे? जब बाहरका परित्याग कर देंगे।

तो समाधि जो है, वह ड्यौढ़ी है। प्रपञ्चके मिथ्यात्वका ज्ञान, ड्यौढ़ी है। उसमें वासना करने योग्य कुछ नहीं है, चाहने योग्य कुछ नहीं है, कामना करने योग्य कुछ नहीं है। अगर चाहने योग्य कोई है तो

केवल भगवान् ही हैं। भगवान्के सिवाय चाहने योग्य और कोई नहीं है।

नारायण, भगवान्के चरित्रका श्रवण करो। भगवान्के चरित्रका गान करो, भगवान्के चरित्रको गुनगुनाओ। इन तीनके द्वारा हृदयमें भगवान्का स्मरण करो और आनन्दका विकास होने दो।

आपने सम्भव है श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका नाम सुना होगा। एकबार मैंने उनसे कभी प्रश्न किया था कि जीवनमें रसका विकास नहीं होता। तो वे बोले कि कमरा बंद कर लो और नाचो। किसीको बतानेकी आवश्यकता नहीं है।

'पग घुँघरु बाँध मीरा नाची रे'।

जैसे नृत्य करते समय हाथसे इशारा करते हैं कि आओ, या मत आओ, जैसे चिबुक हिलाते हैं, आँख हिलाते हैं, कमर हिलाते हैं; ऐसे यदि जीवनमें रसका विकास करना है तो एकांतमें बैठकर प्रभुके लिये थोड़ा नाचो। तो देखो, यह योग समाधिसे विलक्षण साधना हुई कि नहीं? जहाँ योगमें स्थैर्यकी अपेक्षा होती है वहाँ प्रेम तो चञ्चल बना देता है। लेकिन काम चञ्चल बनाता है संसारके लिये और प्रेम चञ्चल बनाता है ईश्वरके लिये विषयका भेद है और विषयकी महिमासे ही भक्तिकी महिमा है। यह प्रेम संसारसे प्रेम नहीं है, भगवान्से प्रेम है।

'त एव पश्यन्ति'–इसपर विश्वनाथ चक्रवर्तीने पाँच अवधारण माने हैं। **'सर्वं वाक्यं सावधारणम्–शृण्वन्ति, गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः, स्मरन्तिनन्दन्ति तवेहितं जनाः–तव एव पश्यन्तिः, पश्यन्ति एव, नान्ये पश्यन्ति।** केवल इन्हींको भगवान्का दर्शन होता है। **'अचिरेणैव पश्यन्ति'**–देर नहीं लगती। श्रीमद्भागवतमें तो लिखा है, नारदजीने कहा कि जब मैंने प्रेमसे भगवान्का नाम लेकर पुकारा–

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठयाश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः।। 1.6.17

जब मैंने भगवान्‌के चरणारविन्दका स्मरण किया और भावसे युक्त परमानन्दमें मग्न हो गया, निर्वृत हो गया माने आवरणसे विनिर्मुक्त हो गया है। जो हमारे और ईश्वरके बीचमें पर्दा था, उसको भावने हटा दिया।

आपको सगुण-साकार उपासनाका विघ्न बताता हूँ। यदि आपके मनमें यह आता है कि यह जो ईश्वरका रूप है, वह हमारे भावसे पैदा हुआ है या हमारी कल्पनासे पैदा हुआ है, ईश्वर स्वयं अनुग्रह करके पैदा नहीं हुआ है, तो नारायण आपकी भक्ति शिथिल हो जायेगी। भक्तिको शिथिल करनेका, भक्तिको चित्तसे हटानेका यही एक उपाय है कि यह जो तुम रूप देख रहे हो, वह काल्पनिक है; यह तो भावजन्य है। भक्ति-शास्त्रका सिद्धान्त यह है कि यह कल्पना, यह भाव जो हम करते हैं—ये उस पर्देको हटाते हैं जो हमारे और भगवान्‌के बीचमें पड़ गया है। ये कल्पना और भावना साधन हैं, इससे पर्दा हटना फल है और, ईश्वरका जो आविर्भाव होता है, वह कल्पना अथवा भावनासे नहीं होता है। वह स्वयं होता है। यही बात शास्त्र-सम्मत भी है, युक्ति-सम्मत भी है।

आपको एक बात वेदान्तकी सुना देते हैं। आत्मा ब्रह्म होता नहीं। वह तो है-ही-है। तब यह तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्य ज्ञान क्या करता है? केवल अविद्याकी आवरणकी निवृत्ति करता है। आत्माको ब्रह्म बनाता नहीं। आत्मा और ब्रह्म तो स्वतः एक है। केवल बीचमें जो पर्दा है, उसकी निवृत्तिके लिये तत्त्वमस्यादि महावाक्य होते हैं। इसी प्रकार यह जो कल्पना होती है भक्ति सिद्धान्तमें, जो भावना होती है—वह भक्त और भगवन्‌के बीचमें जो पर्दा है, उस पर्देको दूर करनेके लिए, उस आवरणको भंग करनेके लिए होती है। तो '**भावनिर्जित चेतसा**'—भावने क्या किया? हमारे हृदयको परमानन्दसे भर दिया। और ईश्वरके बीचमें पर्दा था, उसको भावने हटा दिया। '**औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य**'—उत्कण्ठा हुई, आँखोमें आँसू आये और भगवान्‌का आविर्भाव हुआ।

'भव प्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्'।

जिन चरणारविन्दोंकी प्राप्ति होनेके बाद जन्म-मरण रूप संसार निवृत्त हो जाता है, वासनाएं निवृत्त हो जाती हैं, चञ्चलताएं निवृत्त हो जाती हैं, भगवान्-ही-भगवान् रह जाते हैं। ऐसे भगवान्का दर्शन भक्तिसे होता है।

श्रीमद्भागवतमें एक जगह और भी दर्शनकी चर्चा है, वह भी आपको सुनाते हैं।

देखो, मनुष्यके हृदयमें सद्भावनाकी स्थापना हो, सद्गुणकी प्रतिष्ठा हो। उसमें आस्तिकता हो, श्रद्धा हो, सत्यके प्रति प्रीति होवे, तत्त्वका साक्षात्कार हो। तो कोई किसी मार्गसे चल रहा हो तो, उससे हटाना हमारा लक्ष्य नहीं है। हमारे पास हजारों व्यक्ति आये होंगे, आजतक मैंने किसीका इष्ट नहीं बदलवाया। क्योंकि, हम जानते हैं कि उसके इष्टके रूपमें ईश्वर है। हमने किसीके मन्त्रको नहीं बदलवाया, किसीके गुरुको नहीं बदलवाया। जब आपका कोई गुरु बदलवाने लगता है, इष्ट बदलवाने लगता है, मन्त्र बदलवाने लगता है तो क्या आपको यह नहीं मालूम पड़ता कि हमारे हृदयमें श्रद्धाके स्थानपर संशय आ रहा है। क्या आपको यह नहीं मालूम पड़ता कि हमारे हृदयमें स्थिरताके बदले चाञ्चल्य आ रहा है? हम कहते हैं कि मूर्तिमें ईश्वर है, उसपर आपका विश्वास नहीं होता, तो शून्यमें ईश्वर है—इसपर आपका विश्वास कैसे होता है? हम दो-टूक बात बोलते हैं। हम अपनेको दर्शन-शास्त्रका विद्यार्थी नहीं मानते हम अपनेको दर्शनशास्त्रका विद्वान् मानते हैं भला! जैसे व्यापारी लोग गिनती लगाकर गणितका फल बताते हैं वैसे किस गणितसे न्याय सिद्ध होता है और किस गणितसे सांख्य और किस गणितसे वेदांत, मीमांसा और किस गणितसे बौद्ध और जैन सिद्धान्त सिद्ध होता है, किस गणितसे आर्यसमाज और सनातन सिद्धान्त सिद्ध होता है—उसका गणित हमको मालूम है। सबकी कल्पना, सबके आरोप, सबकी सिद्धियोंकी युक्ति मालूम है।

तो; हमको तो ऐसा लगता है कि यदि आपको कोई कहे कि आप

नींदमें हो जायेंगे तो आपको ईश्वर मिलेगा, तो आप विश्वास करते हैं। जब ऐसा-ऐसा करके समाधि लगा लेंगे तब ईश्वर मिलेगा-इसपर आप विश्वास करते हैं। मूर्तिकी पूजासे ईश्वर मिलेगा-यह भी आप विश्वास करते हैं। लेकिन विश्वास तो साधना है। श्रद्धा तो साधना है। जबतक आपने अमेरिका नहीं देखा है, तबतक अमेरिका देखे हुए व्यक्तिके बताये अनुसार आपको मानना पड़ेगा। वहाँकी टिकट लेनी पड़ेगी। वहाँकी यात्रा करनी पड़ेगी। जब आप वहाँ पहुँच जायेंगे, तब फिर श्रद्धाकी बात नहीं रह जायेगी। फिर तो आपको साक्षादपरोक्ष हो जायेगा।

नारायण, जबतक ईश्वर नहीं मिलता है, तबतक आप किसी भी मार्ग पर चलेंगे तो श्रद्धा और विश्वाससे चलेंगे। इसलिए जब आप एक मार्गको छोड़कर दूसरे मार्गको बदलना प्रारम्भ कर देते हैं तो श्रद्धा और विश्वासमें जो स्थिरता है, वह भङ्ग हो जाती है। हमारे पास तरह-तरहके साधक आते हैं। एक मित्र थे। उन्होंने कहा कि महाराज, मैंने पाँच-छः गुरु बनाये। गुरुओंने हमको बताया है कि पहले गुरुका स्मरण करके तब भजन करना। अब जब मैं ध्यान-भजन करने बैठता हूँ तो एक कतार गुरुओंकी सामने आकर खड़ी हो जाती है। तो उनमें-से पहले मैं किसको प्रणाम किया करूँ? मैंने हँसीमें कहा कि मैं अगर बताऊँगा तो सातवाँ हमको बनाना पड़ेगा! एक और तुम्हारे बढ़ जायेगा।

तो असलमें मूर्ति चाहे गोरी हो, चाहे काली-उसके निमित्तसे अपने हृदयमें ईश्वर आना चाहिए। चाहे सामने विषय हो और चाहे विषयका अभाव-उसके निमित्तसे अपने हृदयमें ईश्वर आना चाहिए। चाहे बतानेवाला किसी भी सम्प्रदायका हो, वह हमारे हृदयमें ईश्वरकी स्थापना करे, ईश्वरकी प्राण प्रतिष्ठा करे, ईश्वरकी मूर्ति हमारे हृदयमें बैठावे।

देखोजी, हम रैदासका पद भी बड़े प्रेमसे बोलते हैं और चार्वाक-दर्शनको तो बहुत मनोयोगसे पढ़ते हैं। एक बार भाई हनुमानप्रसादजी

कहीं जा रहे थे ट्रेनमें। उन्होंने बक्सा खोला तो मैंने पूछा कि भाईजी, आप क्या पुस्तक रखते हैं? तो उसमें जो पहली पुस्तक निकली, उसका नाम था 'धर्मके नामपर पाप'। मैंने पूछा कि यह क्यों रखते हो? वे बोले कि इसीको देखकर तो हम कल्याणमें लेख लिखते हैं कि आजकल लोग क्या तर्क करते हैं, क्या युक्ति देते हैं किस ढंगसे खण्डन करते हैं—इस बातका पता चलता है।

तो नारायण, श्रीमद्भागवतमें बताया गया कि आप भगवान्‌का दर्शन करना चाहते हैं तो कोई बड़ा त्याग आपको करना पड़ेगा। बड़ा त्यागका मतलब? वहाँ तो बहुत बड़ा त्याग है और जिनको वेदान्तका संस्कार होगा—उनको सुनकर आश्चर्य होगा। वहाँ यह बात कही गयी है कि आप समाधि छोड़ो। आप ब्रह्म और आत्माकी एकता छोड़ो! और, भगवान्‌से प्रेम करो, भगवान् मिलेंगे।

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि।।
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति।।

भागवत 3.25.34-35

श्रीकपिलदेवजी माता देवहूतिसे यह कह रहे हैं।

कुछ सन्त ऐसे होते हैं, वे कहते हैं कि हम परमात्मासे एक होना नहीं चाहते। आप सेवाका परित्याग क्यों करते हैं? एक बार दारुकको पंखा झलते-झलते तन्मयता आयी और पंखा हाथसे छूटने लगा। उसने विचार किया कि समाधि बड़ी कि सेवा बड़ी समाधिमें तो 'मैं' रहता है और सेवामें तो मेरे प्रभु रहते हैं। यह भक्तिका भाव है। मेरे प्रभुको सुख पहुँचे वह अवस्था श्रेष्ठ है कि मैं अकेला रहूँ, वह अवस्था श्रेष्ठ है?

प्रेमानन्दंदारुकोनाभ्यनन्दत् ।

दारुकने कह दिया कि हमको यह समाधि नहीं चाहिए। हमको तो हमारे प्रभुकी सेवा चाहिए।

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।

भगवान्‌के चरणोंकी सेवामें अभिरति होवे। और, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार आचरण होवे। तो भगवान्‌के चरणोंकी सेवामें अभिरति–यह मानसी सेवा हुई। और, 'मदीहा'–जितनी चेष्टा हो, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार हो। तो यह 'तनुजा' अर्थात् शरीरसे सेवा हुई। अब तीसरी बात बताते हैं–'**अन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य**'– आपसमें खूब प्रेम रखें, खूब आसक्ति रखें। कौन? भक्त लोग। और, '**सभाजयन्ते मम पौरुषाणि**'–इधरसे, उधरसे कहींसे इकट्ठे हो गये, चार दीवाने मिल गये और चल गयी भगवान्‌की चर्चा! ऐसी चर्चा चली! बस, व्यक्तिके गुण-दोषका चिन्तन नहीं करते हैं। उलाहना देना हुआ तो भगवान्‌को और प्रशंसा करनी हुई तो भगवान् की। अपनी वाणीको भगवद् गुणानुवादके वर्णनमें और अपने श्रोत्रको भगवद्-गुणानुवादके श्रवणमें पतिव्रता बना देते हैं। तो उनको क्या होता है?

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः

मैय्या, वे मेरे परमरुचिर रूपको देखते हैं। ऐसा रूप जो रुचिको खींच ले। 'रुचिर' माने जो रुचिका आदान करे, रुचिको खींचे। 'रुचिं राति आदत्ते इति रुचिरम्'। जो मनुष्यकी रुचि विषयमें है–

या प्रीतिरविवेकानां विषयेषु अनपायनी
त्वां अनुस्मरता मे हृदयामापसर्पतु।।

जैसी प्रीति संसारके विषयोंमें है, ऐसी प्रीति भगवान्‌में हो जाय।

एक चमत्कारकी बात सुनाते हैं। जैसे किरणोंका वक्री-भवन होता है–जलमें सूर्यकी किरणें पड़ती हैं और उनका वक्रीभवन होकर इन्द्र-धनुष दिखता है माने सूर्यकी किरणें कोई लाल, कोई पीली, कोई हरी दिखती हैं। इसी प्रकार जब हम अपने मनको भगवान्‌की ओर लगाने लगते हैं और हमारी वृत्तियोंका वक्रीभवन होता है तो तरह-तरहके रूप दिखायी पड़ने लगते हैं, तरह-तरहके रंग दिखायी पड़ने लगते हैं। नदी दिखती है, पर्वत दिखता है, चन्द्रमा दिखता है, सूर्य

दिखता है, ग्रह-नक्षत्र दिखते हैं, तारे दिखते हैं तो मनुष्यको विश्वास होता है कि जितना हम इन आँखोंसे देखते हैं, उससे परे भी है।

तो एक बार हमारी एक मित्रसे सत्संगकी बात हो रही थी कि बिना त्यागके ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हो सकती। हम दोनों ईश्वरकी प्राप्तिके लिए हरिद्वार गये हुए थे। मनमें बहुत आवेग होता था। हम तो कितनी बार घर-द्वार छोड़कर भगकर गये थे। देखते कि हमारे मनमें कमजोरी है तो ईमानदारीसे लौट आते भला! यह नहीं कि घरसे निकले और गेरुआ रंग लिया। तो मेरी उम्र बीस वर्षकी रही होगी और हमारे मित्रकी उम्र कोई अठारह वर्षकी रही होगी। छोटी उम्रमें बेईमानी ज्यादा नहीं होती। यह दंभ और धूर्तता आदि तो बड़ी उम्रमें आते हैं भला! बिलकुल ईमानदार थे हम लोग ईश्वरकी प्राप्तिके लिए। तो हरिद्वारमें अपने कपड़े-लत्ते, बर्तन सब छोड़ दिये। एक-एक धोती पहनकर नील धाराके पार चले गये। वहाँ जाकर जब भगवान्‌के नामका कीर्तन करने लगे।

देखोजी, हम जो यह चाहते हैं कि हमारे सिरमें परिवर्तन हो, हमारे हृदयमें परिवर्तन हो, तो वह हँसिया-हथोड़ासे नहीं हो सकता भला! हँसिया-हथोड़ा भौतिक परिवर्तन करनेके लिए है। श्रम वह होता है जो भौतिक धातुओंमें परिवर्तन करे और धर्म वह होता है जो अभौतिक धातुओंमें भी परिवर्तन कर दे।

तो भगवान्‌के नामका हम लोग उच्चारण करने लगे। मैं तो होश-हवासमें रहा और वे जो हमारे मित्र थे, वे बेहोश हो गये और बेहोश भी कोई साधारण बेहोश नहीं हुए। ऐसा लगा कि मर गये। मैं अकेला बेचारा। गंगाजी वहाँसे तीन-चार फर्लांग थीं। जाकर, अपनी धोती भिगोकर नंगा ही धोतीका पानी ले आया, उनके मुँहमें डाला, उनके शरीरपर छींटा दिया। होशमें ही न आवें। चेहरा काला हो गया। दूसरा कोई मददगार नहीं। तो मैंने उनके सिरको अपनी गोदमें लिया और धीरे-धीरे बोलने लगा, 'गोविन्द माधव, मुकुन्द कृष्ण, गोविन्द माधव मुकुन्द कृष्ण।' वे श्रीकृष्णके भक्त थे। सच्चे भक्त थे-कोई

संग्रह, परिग्रह नहीं। जीवन-पर्यन्त एक-रस रहनी रही। तो जब मैं भगवन्नामका उच्चारण करने लगा, 'ॐ, ॐ' बहुत बार बोला तो धीरे-धीरे मालूम हुआ कि उनके चेहरे पर प्राण तो हैं। थोड़ी देरमें आपको क्या बताऊँ—इतना प्रकाश उनके मुखपर आया, ऐसा लगे कि हमारी गोदमें उनका वह सिर नहीं रखा हुआ है, कोई चन्द्रमा रखा हुआ है। ऐसा तेज, ऐसी ज्योति देखनेको मिली। और, थोड़ी देरके बाद वे भी 'गोविन्द माधव मुकुन्द कृष्ण' बोलने लग गये और होशमें आगये। उसके बाद जो उन्होंने अपना अनुभव बताया, विलक्षण था। हमारी दृष्टिसे तो उनकी आँख बन्द थी। परन्तु, जो उन्होंने आध्यात्मिक अनुभव बताया, वह ऐसा चीज थी जो मनुष्यके साधारण जीवनमें विषयोंका भोग करते समय, विषयोंमें मनोवृत्ति लगानेसे नहीं आता है।

तो आप विश्वास कीजिये—अपने इष्टदेव, अपने मन्त्र, इष्टदेवकी जैसी सेवा शास्त्रमें शरीरसे, मनसे, धनसे बतायी है, इसपर। धनकी आवश्यकता है। इस सम्बन्धमें जो मनोविज्ञान है, हम उसपर भी प्रकाश डाल सकते हैं। संसारमें जो कृपणता है, वह तो संसारकी पकड़ है। ऐसी तैयारी होनी चाहिए कि ऐसी कोई वस्तु संसारमें नहीं है, जिसको हम ईश्वरके लिए छोड़ नहीं सकते। लोग सोचते हैं कि परिश्रम करनेसे संसारकी सम्पत्ति मिलती है, तो वह अलग चीज है और भगवान् तो केवल चुपचाप बैठनेसे या केवल मन-ही-मन सोचनेसे मिल जायेंगे। यह सब हमारे घरमें रखा रहेगा, इस पर कोई असर नहीं पड़ेगा। नारायण कहो! शरीरसे भी सेवा, मनसे भी सेवा, धनसे भी सेवा होवे! और, भाव-सम्पत्ति जैसे अपने हृदयमें उदय होवे, ऐसे शब्दोंकी आवृत्ति होनी चाहिए।

देखो, आत्मरूप जो भगवान् हैं, उसमें निवृत्तिसे स्थिति होती है और बाहर जो भगवान्का दर्शन है, वह तो भावकी आवृत्तिसे होता है। श्रीमद्भागवतमें एक जगह आया कि, '**मुक्तिं ददाति कर्हिचित् न तु भक्तियोगम्**'—पाँचवें स्कन्धमें यह श्लोक आता है। भगवान् प्रसन्न

होते हैं तो मुक्ति तो सबको दे देते हैं, लेकिन अपनी भक्तिका अवसर सबको नहीं देते। ऐसा समझो कि जैसे जेलखानेमें बहुत सारे लोग बन्द हों तो राजा मुक्तिका आदेश तो बहुतोंके लिए दे सकता है। लेकिन उन कैदियोंमें-से अमुक-अमुक कैदी हमारे महलमें रख दिये जाँय और सेवाके बहुत अन्तरंग पद पर नियुक्त कर दिये जायें–इन दोनोंमें-से आपको कौन-सा कठिन लगता है? जेलखानेसे छोड़ देना आसान है। अनायास छोड़ सकते हैं, मुक्ति तो दे सकते हैं। लेकिन उसको अपनी अन्तरंग सेवामें लेना कठिन है। और, भगवान् इतने अनुग्रही हैं, इतने कृपालु हैं, इतने भक्त-वत्सल हैं कि वे स्वयं अपने भक्तोंके भावको सत्य कर देते हैं। जो विश्वास पूर्वक यह लालसा करे कि भगवान् मिलेंगे और भगवान्का नाम लेकर पुकारे कि भगवान् मिलेंगे।

तो बहुत अल्पकालमें ही भगवान्की कृपा, उनका अनुग्रह अवतीर्ण होता है। मैं आपको कैसे विश्वास दिलाऊँ! यदि आप मेरे सौगन्ध खानेसे विश्वास करते हों तो मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ। बुद्धिसे, विचारसे हमको यह भी प्रत्यक्ष है कि सम्पूर्ण विषयोंका निषेध करके, चित्तवृत्तिका निरोध करके शान्त होकर अपने द्रष्टा-स्वरूपमें बैठते हैं। यह बिलकुल सत्य है, इसमें कोई दोष नहीं है। तो यह हमारा होना जितना सत्य है–हम अपनेको कोई प्रमाणसे नहीं जानते हैं, हमने अपनेको आँखसे देखा नहीं है, हमारा अपना आपा मनसे कभी ध्यानमें आया नहीं है, किसी प्रमाणका विषय नहीं हुआ है। परन्तु, किसी प्रमाणका विषय न होने पर भी हमारी आत्मसत्ता जैसे बिलकुल अखण्ड है, इसी प्रकार मैं आपसे कह सकता हूँ कि आप निर्भय होकर यह विश्वास कीजिये कि ईश्वरकी सत्ता अखण्ड है और भक्तोंको ईश्वरकी वैसी ही अनुभूति होती है जैसी एक पत्नीको अपने पतिकी, एक माताको अपने बेटेकी, एक मित्रको अपने मित्रकी। और, इसी दुनियामें, इसी जीवनमें, इसी शरीरमें भगवान्का दर्शन होता है।

✪

प्रवचन : 2

भगवद्दर्शनमें ध्यानकी उपयोगिता

आज थोड़ी ध्यानकी बात आपको सुनाते हैं। क्योंकि, भगवान् के दर्शनमें ध्यान बहुत उपयोगी है।

वैसे भगवान् साधनसे मिलते हैं, यह बात सगुण सिद्धान्तमें कोई भी आचार्य नहीं मानता। हमारे बलसे, हमारी क्रियासे, हमारी भावनासे भगवान् मिलते हैं—ऐसा न निम्बार्क, न श्रीरामानुज, न वल्लभाचार्य, न विष्णु स्वामी, न गौड़ेश्वर, न मध्व और न ही रसिकाचार्य हितहरिवंश, हरिदास मानते हैं। सबका सिद्धान्त यह है कि अनुग्रहसे ही भगवान् प्रकट होते हैं। भगवान्‌की कृपा ही भगवान्‌को लेकर आती है। इसीसे जहाँ-तहाँ श्रीमद्भागवतमें मिलता है कि भगवान्‌के चरित्र उदार हैं, भगवान्‌के गुण उदार हैं, भगवान्‌के नाम उदार हैं। 'उदार' शब्दका अर्थ है 'उत् ऊर्ध्वं शक्तेः आ समन्तात् राति'—जिसमें जितनी शक्ति है उससे अधिक जब वह दे तो उसको 'उदार' बोलते हैं। तो गुण गुणीको दे दे, नाम नामीको दे दे, लीला लीलाधारीको दे दे, कृपा भगवान्‌को दे दे—तो यह तो मालिकका अनुग्रह ही ऐसा समझना चाहिए।

शिवपुराणमें कथा आती है कि एक भक्त रोज शंकरजीके पास जाता था तो शंकरजीका फाटक बन्द मिलता था। एक दिन कहीं नन्दीश्वर उसे मिल गये। उन्होंने कहा कि जाओ तुम मेरा नाम लेना।

शंकरजीको पुकारकर कहना कि नन्दीश्वरने हमको भेजा है। शंकरजी दर्शन देंगे। उसने ऐसा ही किया। शंकर भगवान् फाटक खोलकर बाहर निकल आये। बोले, बाबा, मेरी बात झूठी हो जाय तो हो जाय, परन्तु मेरे भक्तकी बात झूठी नहीं हो सकती।

तो जो लोग भगवान्के नाम, भगवान्के गुणानुवाद, भगवान् की लीलाका चिन्तन करते हैं उनके अनुभवमें यह बात स्पष्ट आती है कि भगवान्के गुण उदार हैं–अपनी शक्तिसे अधिक देते हैं माने गुणीको लाकर देते हैं, भगवान्के नाम नामीको लाकर देते हैं।

तो साधनका रहस्य भक्ति-मार्गमें क्या है कि अनुग्रहके अनुभवमें जो प्रतिबन्धक है, उसको मिटा दे। यह आप इसका सूत्र ही समझो। हम नाम-जप करते हैं, ध्यान करते हैं, लीलाका चिन्तन करते हैं, सेवा करते हैं–इसलिए नहीं कि भगवान् हमारे ऊपर ऐसा कुछ करने पर कृपा करेंगे। बल्कि, भगवान् की जो कृपा बरस रही है हमारे ऊपर, उसके अनुभवमें जो प्रतिबन्ध है, जो अड़चन है–वह दूर हो जाये। हमारी साधना केवल अड़चन दूर करनेके लिए होती है, ईश्वरको प्रकट करनेके लिए नहीं होती है। जैसे आप देखो कि सूर्यका प्रकाश सबके ऊपर बरस रहा है। लेकिन जो कमरेके भीतर है, उसके ऊपर पड़नेमें प्रतिबन्धक क्या है? छत है। यदि वह कमेरेसे बाहर निकल जाय तो धूप उसपर बरस रही है। तो उसने अपनेको घरमें बन्द कर लिया, इसलिए सूर्यकी धूपका अनुभव नहीं हो रहा है। उसकी साधना क्या है? उसकी साधना यह है कि छतके भीतरसे खुले मैदानमें निकल जाये तो न सूर्यको प्रकट करना पड़ेगा, न अनुग्रहको प्रकट करना पड़ेगा। केवल प्रतिबन्धक मात्रका निरास हुआ।

हमारे एक परिचित विद्वान् हैं। वयोवृद्ध हैं। बोले कि मैं बचपनसे अबतक 'नमः शिवाय' मंत्रका जप करता आया और मैंने करोड़ मन्त्रका जप किया होगा। परन्तु, कुछ भी अनुभव मुझे

अदृश्य-वस्तुका नहीं हुआ। एक दिन मैं शंकरजीके मन्दिरमें बैठकर 'नमः शिवाय' मन्त्रका जपकर रहा था तो मेरे मनमें प्रश्न हुआ कि मैं इतना बड़ा वैयाकरण और मैं जानता हूँ कि शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध है। जहाँ शब्द होता है वहाँ उसका अर्थ भी होता है। तो मैं 'नमः शिवाय' शब्द बोलता हूँ, इसका अर्थ तो यहीं होना चाहिए और इसका अर्थ वही त्रिशूलधारी गौर-वर्ण और गंगाधर जटाजूट, चन्द्रधारी ही होता है। तो मैं 'नमः शिवाय'का जप करता हूँ, सो इसका अर्थ कहाँ गया? यहाँ क्यों नहीं है? मैं बैठे-बैठे सोचने लगा कि 'औत्पत्तिकः शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः'-शब्दका अर्थके साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध है, तो जब मैं 'नमः शिवाय' बोलता हूँ तो शिव क्यों नहीं आते हैं? क्या ये शास्त्र सब-के-सब झूठे हैं कि 'वागार्था इव सम्पृक्तथौं'-जैसे वाणी और अर्थ सम्पृक्त होते हैं, वैसे हम जो नाम लेते हैं, वह नाम और उसका अर्थ ये तो दोनों एकमें रहते हैं। हम नाम लेते हैं तो हमको नामीका दर्शन क्यों नहीं होता? जो मेरे मनमें यह प्रश्न उठा, तो क्या आश्चर्य हुआ कि मन्दिरका जो शिखर था, ऐसा लगा कि उसमें-से हाथमें त्रिशूल लिये हुए चम-चम चमकते हुए गौरवर्ण शंकर भगवान् आकर हमारे सामने खड़े हो गये और मैंने दण्डवत् प्रणाम किया।

तो रुकावट क्या थी शंकरजीके दर्शनमें? उन्होंने बताया कि हमको ऐसा लगता था कि हम तो शंकरजीका केवल नाम लेते हैं, वे तो कहीं दूर रहते हैं। जब हमने नामको शंकरजीका स्वरूप समझा तो शंकरजी प्रकट हो गये।

उपासकोंके क्षेत्रमें एक और बात कही जाती है-एक सज्जन गणेशजीकी पूजा करते थे। छः महीने हो गये, छः वर्ष हो गये-रोज गणेशजीको दूर्वादल चढ़ावें, उनकी पूजा करें षोडशोपचार। किन्तु गणेशजी कुछ बोलें नहीं। तो एक दिन उनके मनमें आया कि गणेशजी तो बड़े कठोर चित्तके हैं ये सिद्ध नहीं होते हैं। अब इनकी पूजा नहीं

करेंगे। शंकरजी आशुतोष हैं, औढरदानी हैं, बड़े दयालु है–अब उनकी पूजा करेंगे। गणेशजीको उठाकर मन्दिरमें आलेमें रख दिया और शंकरजीकी पूजा करने लगे। अब स्नान कराया, चन्दन लगाया, विल्ब-पत्र चढ़ाया, पुष्प-चढ़ाया, धूप दिया तो धूपका धूआँ ऊपर आलेमें रखे गणेशजीकी नाकमें घुसे। तो वे सोचे कि देखो, इतने दिन तो मैंने इनकी पूजा की तो कुछ किया नहीं और, अब हम यह धूपका धुआँ देते हैं तो इसे जबरदस्ती सूँघ रहे हैं। हम तुमको धुआँ नहीं सूँघने देंगे। और, जाकर गणेशजीकी नाकमें रूई ठूँस दी। अब तो गणेशजी हँसने लग गये बड़े जोरसे। उसने कहा कि छः वर्षमें नहीं हँसे, आज हँसे हो। पूजाकी लालच ज्यादा है क्या? तो गणेशजी बोले कि भगतजी, छः वर्षसे तो तुम हमको पत्थरकी मूर्ति समझते थे, आज ही तो तुमने हमको सूँघनेवाला समझा है। जब तुमने सूँघनेवाला समझा, तब मैं बोलनेवाला हो गया। और, अगर तुम पहले ही हमको सूँघनेवाला समझते तो हम पहले ही बोलते।

नारायण कहो! देखो, भावमें जबतक मूर्ति पत्थरकी रहेगी, तबतक वह कैसे बोलेगी? शालग्राम कैसे चलेंगे? जब भावमें वे नारायण हो जायेंगे, जड़ताका जो आवरण है, पर्दा है, प्रतिबन्ध है–वह टूट जायेगा तब भगवान् बोलते हैं। हमारे एक मित्र एक बार भगवान् का ध्यान करनेके लिए बैठे तो पचहत्तर घंटे ज्यों-के-त्यों बैठे रह गये। और, उठनेके बाद उन्होंने यह स्वीकार किया कि हमको भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन हुआ है। बड़े सिद्ध-पुरुष हैं।

अब आपको हम थोड़ी-सी नाम-जपकी, ध्यानकी बात सुनाते हैं।

यह कोई साधारण श्रद्धा नहीं है कि अनदेखे साजन पर और अनमिले साजन पर इतनी प्रीति होवे! भगवान् कहते हैं कि अवतार-कालमें जो लोग हमको पहले देख लेते हैं और फिर प्रेम करते हैं, उनके प्रेममें कोई विशेष बात नहीं है। देखनेके बाद तो प्रेम होना स्वाभाविक

है। परन्तु, बिना देखे जो हमसे प्रेम करते हैं, उनके प्रेमकी महिमा बड़ी विलक्षण है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।

गीता 12.20

जो माँको देखकर माँ-माँ चिल्लाने लगता है, उस बच्चेका क्या प्रेम है माँ से? जो माँको देखे बिना भी माँके लिए व्याकुल होता है, उस बच्चेका अपनी माँसे प्रेम है।

ऋषिकेशमें एक महात्मा हैं। मण्डलेश्वर हैं। उनका नाम चैतन्यगिरि है। वे एकबार जबलपुर आये थे। नर्मदाके तटपर उन्होंने देखा कि एक जवान साधु लेटा हुआ है। तो उनके मुँहसे निकल गया कि जवान होकर तुम भजन नहीं करते हो, लेटे हुए हो। राम-राम!! तो उसने उनको पास बुलाया और कहा कि आप अपना कान मेरे सिरपर लगाओ। तो उन्होंने उसके सिरपर अपना कान लगाया तो उसमें-से ॐ, ॐकी ध्वनि आ रही थी। फिर बोले कि अच्छा, हमारी हथेली लेकर अपने कानसे लगाओ। तो उसमें भी ॐ, ॐ, ॐकी ध्वनि सुनायी दी। इसी तरह अपने शरीरके कई हिस्सों पर उसने कान लगवाया और सबमें-से 'ॐ'की ध्वनि सुनायी दी।

शब्द शक्तेरचिन्त्यत्वात् विद्मतं मोहहानताः।

शब्दकी शक्ति अचिन्त्य है। यदि ईश्वरका अस्तित्व हम ऐसा स्वीकार करते कि वह कोई भूत-भौतिक पदार्थ है, तब तो इन्द्रियोंके द्वारा उसका साक्षात्कार होता। वह तो हमें अपनी इन्द्रियोंको शान्त करके एक बार उसके साथ मिलना पड़ता है।

तो आओ, एक उड़ती नजरसे पहले ध्यानके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न दर्शनोंकी जो धारणाएं हैं, उनपर प्रकाश डाल दें!

वेदान्तियोंमें दो प्रकारका ध्यान प्रचलित है-

1. 'ध्यानं निर्विषयं मनः'-संसारका कोई विषय मनमें न रहे

और उस निर्विषय मनको हम देखते रहें। यह त्वं-पदार्थ प्रधान ध्यान है। यह यदि कर्ताकी प्रधानतासे हो तो बहिरंग साधन समाधानके अन्तर्गत होता है और यदि यह श्रवण होकर लक्ष्यार्थकी प्रधानतासे होवे तो यह मनन, निदिध्यासनकी कोटि तक पहुँच जाता है।

2. दूसरा ध्यान है 'तदाकारवृत्ति'। माने विजातीय प्रत्ययका तिरस्कार करके, कोई घटाकार, पटाकारवृत्ति चित्तमें न आने पावे और सजातीयवृत्ति माने ब्रह्माकारवृत्तिका प्रवाह। ऐसे बोलते हैं कि कर्तृत्वोल्लेखशून्य, भोक्तृत्वोल्लेखशून्य, वासनाशून्य, शुद्ध, शान्त, सात्विक प्रतीतिमात्र अन्तःकरणमें जो आत्म-चैतन्यका प्रतिबिम्बन है, उसको ध्यान बोलते हैं।

सांख्यवादी कहते हैं कि भले दुनियाको देखो। लेकिन कहीं राग-द्वेष नहीं होने पावे। तुम द्रष्टामात्र हो—यही ध्यान है। 'रागोपहतिर्ध्यानं'—यह सांख्यदर्शनका सूत्र है। किसीका रंग अपने ऊपर मत चढ़ने दो। अपनी असंगता ज्यों-की-त्यों। असंग आत्मस्वरूपमें स्थिति बनी रहे। कहीं राग-द्वेष न होवे। माने श्रेष्ठगुण अन्तःकरणमें होवें और आत्मा साक्षी होवे। इसको सांख्यवादी लोग 'ध्यान' मानते हैं।

योग-दर्शनमें इस ढंगके ध्यानको मुख्य ध्यान नहीं मानते हैं। वे कहते हैं, 'तत्रैकतानता ध्यानं'। देशकी प्रधानतासे अपने मनको एक जगहमें लगाना जैसे मूलाधारमें, मणिपूरकमें, स्वाधिष्ठानमें, अनाहतमें, आज्ञाचक्रमें, सहस्रारमें—तो स्थान विशेषमें मनका स्थिरीकरण तो धारणा है। परन्तु, वही लक्ष्य वस्तुकी प्रधानतासे जब हो जाये और एकतानता माने वृत्तिका प्रवाह उसीमें गिरने लगे तो उसको योगी लोग 'ध्यान' बोलते हैं। और, जब ध्याता और ध्येयकी एकता हो जाये, तब समाधि प्रारम्भ होती है। उसमें स्थूलालम्बन समाधि, सूक्ष्मालम्बन समाधि, आनन्दालम्बन समाधि और अस्मितालंबन समाधि—ये चार प्रकारकी समाधि सम्प्रज्ञात होती हैं। और, असम्प्रज्ञात समाधि सविकल्प और निर्विकल्प दो भेदसे होती है और निर्विकल्पमें भी

सबीज और निर्बीज दो भेद होता है। एक बात इसमें विलक्षण है कि समाधि लगनेके बाद भी आत्मा परिच्छिन्न है—यह जैन सिद्धान्त है और समाधि लगनेके बाद परिच्छिन्नताका कोई हेतु न होनेसे आत्मा विभु और अनेक है—यह योग सिद्धान्त है। परन्तु, यह आत्मा ब्रह्म है, अद्वितीय, अखण्ड है, इसके सिवाय न दूसरा आत्मा है, न इसके सिवाय दूसरा जगत् है, न दूसरा ईश्वर है—यही अद्वितीय अखण्ड परिपूर्ण ब्रह्म है—यह वेदान्त सिद्धान्त है। द्वैतके रहते हुए ब्रह्मता नहीं है। द्वैतके निवृत्त होने पर ब्रह्मता है। और अहं ब्रह्मास्मि यह वृत्ति भी अज्ञानको निवृत्त करके शान्त हो जाती है और, 'अहं ब्रह्मास्मि' यह वृत्ति परमार्थ नहीं है। यह केवल अज्ञानकी निवृत्तिके लिए है। इसलिए जो महापुरुष अपने स्वरूपमें जान जाते हैं, उनको 'अहं ब्रह्मास्मि' कहनेकी भी जरूरत नहीं पड़ती है।

न वहाँ मैं, न तुम, दफ्तर गुम।

न वहाँ प्रपञ्च—न वहाँ जीवभेद, न जगत् भेद, न ईश्वर भेद। एक अखण्ड अद्वितीय परमात्मा।

नारायण, यह बात इसलिए आपको सुनायी कि भक्ति-सिद्धान्तमें ध्यानका जो स्वरूप माना जाता है, उसको समझनेमें सुगमता हो। और, बात यह होती है कि कभी भक्ति-सिद्धान्तके विपरीत कोई ध्यान सुनाने लग जाये तो मनुष्यका मन फिसल जाता है कि अरे, यह तो नयी बात सुनायी। असलमें सभी सिद्धान्तोंके ध्यानके बारेमें जानकारी रखकर तब भक्ति-सिद्धान्तके ध्यानमें निष्ठा करनी चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रकारका श्रवण करनेसे बुद्धिमें भेद न होने पावे, बुद्धि विचलित न होने पावे।

एक दिन मैं गंगा किनारे स्वर्गाश्रमके पास बैठा हुआ था। चाँदनी रात थी। एक सज्जन हमारे पास आये। बड़े व्याकुल थे। उन्होंने कहा कि स्वामीजी, हमको पच्चीस-तीस वर्ष हो गया अध्यात्मका अनुसन्धान करते, कुछ भी अनुभव इस दिशामें हमको

नहीं हुआ। मैंने पूछा कि तुमको क्या चाहिए? उसने कहा कि हमको आनन्द चाहिए। आप कहो तो आज ब्याह भी हम करनेको तैयार हैं और समाधि लगवा दो तो समाधि लगा लें और भगवान्‌का दर्शन करा दो तो भगवान्‌का दर्शन कर लें! यहाँ तक कि गंगाजीमें कूदकर मर जानेको कहो तो मर जायें। लेकिन हमको आनन्द चाहिए। जैसे आनन्द मिले, वह करनेको तैयार हैं। मैंने कहा कि भाई, आनन्द छोड़कर कोई इच्छा तेरे मनमें नहीं है? वह बोला कि नहीं है। मैंने कहा कि अच्छा, बैठ जा। अब वह सिद्धासन लगाकर हमारे सामने ही बैठ गया। मैंने फिर पूछा कि तुमको आनन्दके सिवाय और कुछ नहीं चाहिए न? उसने कहा कि नहीं चाहिए। बार-बार मैंने उससे त्रि-वाचा भरवायी कि हमको आनन्दके सिवाय और कुछ नहीं चाहिए। उसके बाद मैंने कहा कि अच्छा, मैं जो कहता हूँ सो कर। आनन्द प्राप्तिकी इच्छा छोड़ दे। और तो कोई इच्छा है नहीं तुम्हारे मनमें। अब आनन्द प्राप्तिकी इच्छा छोड़ दे। उसने कहा कि छोड़ दिया। और उसके बाद ऐसा शान्त हुआ कि घंटों तक उस चाँदनी रातमें न आँख खुले, न हाथ-पाँव हिलें। बादमें मैंने उसको जगाया। उसने कहा कि हमको आज जैसा आनन्द मिला, ऐसा जीवनमें कभी नहीं मिला।

तो देखो, वह आनन्दकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक क्या था? केवल इच्छा ही प्रतिबन्धक थी।

तो अब आओ, भक्तिमें ध्यान कैसा करते हैं—वह आपको सुनाते हैं।

नारायण, भक्तिमें पहले धामका ध्यान होता है। धाममें रूपका ध्यान होता है। रूपमें गुणका ध्यान होता है। गुणके बाद लीलाका ध्यान होता है। लीलाके बाद सेवाका ध्यान होता है। सेवाके बाद चेष्टाका ध्यान होता है। चेष्टाके बाद भावका ध्यान होता है।

देखो, जो सगुण-साकारका विग्रह है, उसको ध्यानको आप

छोटेसे प्रारम्भ कीजिये और बड़ाकर दीजिये तो भक्ति हो जाती है और बड़ेसे प्रारम्भ कर दीजिये और छोटा कर दीजिये तो योग हो जाता है। अपने जो रसिक संत हैं, उनका ऐसा कहना है कि पहले आधारपीठका ध्यान होना चाहिए कि भगवान् कहाँ हैं?

स्मरेद् वृन्दावने रम्ये गोप गोभिः अनावृतम्।
गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं गोपकन्या सहस्त्रशः।।

देखो, यह रहा श्रीवृन्दावन। जहाँ छोटे-छोटे वृक्ष होते हैं। भगवत् -प्रिया तुलसीके वृक्षोंका जहाँ वन है। हिंसक पशु कोई नहीं रहते हैं। बड़ा रमणीय, बड़ा सुन्दर वह वन है। एक ओर कालिन्दी हैं। एक ओर गिरिराज हैं। हरे-भरे वृक्ष हैं। मालती आदि लतायें हैं। हरिण छलाँग भरते हैं। गौएँ चरती हैं। मोर नाचते हैं। पक्षी चहकते हैं। इस प्रकार यह धाम दिव्य-धाम है। इस धामका आलम्बन लेकर भावमें दिव्यता आनी चाहिए। मनमें बिना आलम्बनके परिवर्तन नहीं होता है। यदि कोई कहे कि मनको आज्ञा दे दो कि ऐसे हो जा! अरे ओ मन, निराकार हो जा! तो मन निराकार नहीं होता। मन ऐसे भीतर नहीं घुसता। उसके लिए कोई आलम्बन चाहिए। तो धामके आलम्बनसे मनको वृन्दावनमें ले जाते हैं कि वृन्दावनको मनमें लाते हैं—इसमें कोई भेद नहीं है। न मन वृन्दावनमें जाता है, न वृन्दावन मनमें आता है। मन ही वृन्दावनाकार परिणामको प्राप्त होता है। बाहर वाला वृन्दावन भीतर नहीं आता और भीतर वाला मन शरीरको छोड़कर हजारों मीलकी यात्रा नहीं करता। हमारे मनकी आकृति बदल जाती है। वह वृन्दावनाकार हो जाता है— यह कालिन्दीका कूल है। यह श्रीगिरिराज हैं। ये कदम्ब, तमाल आदि वृक्ष हैं। ये लतायें हैं। ये गौएँ हैं। ये गोपियाँ पानी भरने जाती हैं। ये ग्वाल-बाल खेल रहे हैं। धामका ध्यान, धामका प्रकाश करना—इसको बोलते हैं 'ब्रह्ममयी वृत्ति'। यह ब्रह्ममय ध्यान है। यह वृन्दावन साक्षात् ब्रह्म है।

नारायण, अभी इस वृन्दावनमें जब हम देखेंगे कि एक साँवरा-

सलोना, पीताम्बरधारी, मुरलीमनोहर ब्रजराज कुमार ग्वाल-बालोंके साथ या गोपियोंके साथ खड़ा या बैठा या चलता-फिरता, हँसता-खेलता है। यह नहीं कि मूर्तिकी तरह खड़ा है। जड़-वृत्ति नहीं होनी चाहिए, चलती हुई वृत्ति होनी चाहिए। प्रेममें गति होती है। ज्ञान निर्गतिक होता है। ज्ञान कहीं आता-जाता नहीं है। और, प्रेममें तो बड़ी भारी शक्ति होती है। वह जीवको शिव बना दे। वह जड़को चैतन्य बना दे। प्रेममें परिवर्तन करनेकी शक्ति होती है। वह क्रूरको दयालु बना दे। विरक्तको रागी बना दे। दूरको निकट बना दे। प्रेममें ईश्वरको जीव बनानेका सामर्थ्य है। स्वतन्त्रको परतन्त्र बनानेका सामर्थ्य है। एकको अनेक बनानेका सामर्थ्य है। तो प्रेमपूर्वक भगवान्का ध्यान करो। नखमणि चन्द्रिकयानिरस्ततापेसे लेकर शिरोभाग पर्यन्त ध्यान करते हैं। तो हृदयका अन्धकार भगवान्के प्रकाशसे दूर हो रहा है। कभी पीताम्बर फहरा जाता है। कभी नख-मणिकी स्वच्छ चाँदनी छिटक जाती है। कभी आँखोंमें-से रोशनी निकलती है। कभी मुस्कराते हैं तो दाँतोंमें-से चाँदनी छिटक जाती है। कभी हिलते हैं, कभी डोलते हैं। उनके अंगकी चेष्टा, उनकी लीला, उनकी सेवा और सेवामें फिर उनके भाव-किशमिश खानेपर उनकी जीभपर कैसा लगा आदि।

हमारे एक मित्र हैं। वे बता रहे थे कि एक दिन मैं मन-ही-मन ठाकुरजीको भोजन कराने लगा। सो जो मैंने ठाकुरजीके मुखमें एक किशमिश डाली तो उन्होंने हमारी अँगुली दाँतसे पकड़ ली। अब मैंने कहा कि छोड़ो बाबा, छोड़ो! परन्तु वे छोड़ें ही नहीं। हमारी अँगुली दुःखने लग गयी। हमारी अँगुलीमें काट लिया उन्होंने। मैंने कहा कि देखो, इतना बड़ा ऐश्वर्यशाली ईश्वर होकर ऐसा लड़कपनका काम तुमको नहीं करना चाहिए। मैं तो प्रेमसे खिला रहा हूँ और तुम हमारी अँगुली काट रहे हो।

तो नारायण, भक्तोंका भाव इस सम्बन्धमें बड़ा विलक्षण होता

है। किसी-किसीको लीलाका दर्शन तो होता है, परन्तु सेवा प्राप्त नहीं होती। और, किसी-किसीको सेवा भी प्राप्त हो जाती है तो भावकी अनुभूति नहीं होती और कोई-कोई भावकी अनुभूति करके बिलकुल श्रीकृष्णसे तादात्म्यापन्न हो जाते हैं। यह तो मैं आपको एक यथार्थकी सूचना देता हूँ और चाहे आप कहो कि यह महात्माओंका वरदान है कि जितनी देर आप अपने हृदयमें मुस्कराते हुए श्रीकृष्णका ध्यान करेंगे उतनी देरतक कोई दुःख आपका स्पर्श नहीं करेगा। शास्त्रमें वर्णन आया है कि जब मनुष्य गंगामें प्रविष्ट हो जाता है तो उसके पाप बाहर ही खड़े रह जाते हैं, उसके साथ गंगामें नहीं जाते।

यदा मनुष्यः प्रचलन्ति गंगां,
रुदन्ति पापानि वदन्ति कानिचित्।
अहो कृतघ्नः मनुजा हि लोके
स्वयंकृतान्येव विनाशयन्ति।।

'अरे मनुष्य, तू बड़ा कृतघ्न है। पहले तो तूने हमको किया और अब गंगामें प्रवेश करके हमारा विनाश करना चाहता है।'

तो पापी मनुष्यके शरीरको छोड़कर पाप किनारे पर खड़ा हो जाता है। जब गंगाजीसे निकल कर वह मनुष्य फिर झूठ बोलता है, छल करता है, दूसरेकी बुराई सोचता है, तब वह पाप फिर उसके ऊपर-चढ़ बैठता है। तो जैसे गंगामें प्रवेश करने पर मनुष्यके शरीरमें पाप नहीं रहता, इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करने पर पाप और पापका फल जो दुःख है-दोनों ही शरीरको छोड़कर भाग जाते हैं और मनुष्य सर्व पाप और तापसे मुक्त होता है।

नारायण, यदि आप रोते होंगे तो आपको श्रीकृष्ण अँगूठा दिखाकर हँसा देगा। यदि आप दुःखी होंगे-जिस चीजके लिए दुःखी होंगे, वही बनकर आपकी गोदमें बैठ जायेगा। तो सुखका, परमानन्दका जो पिण्ड है, जो परमानन्दकी अभिव्यक्ति है, जो परमानन्द स्वरूप है, उसीको 'कृष्ण' कहते हैं। हृदयमें प्रेम जाग्रत् होवे, हृदयमें रस जाग्रत्

होवे और अपने सम्पूर्ण प्रेमको, सम्पूर्ण रसको हम भगवान्‌में अर्पित कर दें, भगवान्‌के चरणों पर चढ़ा दें। यह सुषुप्तप्रेमको जाग्रत् करना और उस जाग्रत-प्रेमको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित करना।

तो पहले ही मैंने यह बात आपको सुनायी थी कि केवल प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिए साधन होते हैं। भगवान् तो स्वयं प्रकट हैं। श्रीमद्भागवतमें एक श्लोक है–

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे सदायभाक्।।

भागवत 10.14.8

भगवान्‌की कृपाका भली-भाँति सम्यक् ईक्षण करो। मनुष्य अपना जीवन कैसे व्यतीत करे? बोले कि हर जगह, हर समय, हर वस्तुमें, हर क्रियामें भगवान्‌की कृपाको देखें। यह साधना है। माने पहली यह बात है कि भगवान्‌के साथ तुम्हारा मत मिल गया है कि नहीं? तुम्हारा ईश्वरसे कुछ मतभेद है कि नहीं? भगवान् आनन्द स्वरूप हैं, ज्ञान स्वरूप हैं, अविनाशी हैं। भगवान् परमकृपालु हैं, उदार शिरोमणि हैं। उनका अनुग्रह, उनकी कृपा बरस रही है। यदि मतभेद है ईश्वरके साथ, तो तुम अपनेको उसमें डुबो नहीं सकते।

देखो, श्रीमद्भागतमें मैं बालकपनसे पढ़ता था। पर इस श्लोकका अर्थ बालकपनमें समझमें नहीं आया। पंडितसे पढ़ा तो भी समझमें नहीं आया। जब महात्माने बताया कि इसमें देखो यह ध्यान गया तुम्हारा कि 'प्रतीक्षमानः' शब्द नहीं है, 'समीक्षमाणः' शब्द है।

तत्तेनुकम्पां सुसमीक्षमाणः

महात्माने लखाया कि देखो, इसमें ऐसा नहीं है कि हम भगवान्‌की कृपाकी प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब गिरे, कब गिरे! क्या भगवान् कोई कंजूस हैं? इस समय भगवान् अपनी कृपा नहीं बरस रहे हैं, कल बरसेंगे? आज बरसनेसे क्या उनकी कृपा घट जायेगी? अरे भाई, वह कृपा बरस रहा है, परन्तु उसको पहचानते नहीं हो। तुम्हारी

माँने दूध पीना छुड़ा दिया और तुमने समझा कि हाय-हाय, हमारी माँ बड़ी क्रूर है, बड़ी कठोर है, दूध नहीं पीने देती है। तुम यह नहीं समझते हो कि माताके हृदयमें इतनी करुणा है, इतना प्रेम है, इतना वात्सल्य है कि वह समझती है कि ज्यादा दूध पी जायेगा तो अपच हो जायेगा। तुम्हें अपचसे बचानेके लिए वह दूधको छुड़ाती है। अपनी क्रूरताके कारण दूध नहीं छुड़ाती है।

तो नारायण, ईश्वर अगर शरीर भी बदल देता है तो उसकी कृपा है। सम्बन्धियोंकी तो बात ही क्या। धनकी तो बात ही क्या। संसारमें जितना धन है वह ईश्वरका है-इस दुकानमें रखे कि उस दुकानमें रखे, इसमें वह स्वतन्त्र है। कभी हमारे ऊपर जिम्मेवारी डालता है और कभी नहीं डालता है। कभी हमें किन्हीं सगे-सम्बन्धियोंके बीचमें रखता है, कभी उनसे अलग कर देता है। उसके दिये ये सम्बन्धी हैं। उसने एक सम्बन्धी हमको दिया, हम उसको गोदमें रखें और कभी वह हमारी गोदमें-से छीनकर अपनी गोदमें रख ले तो इसमें उसकी क्रूरता कहाँसे आयी? इसमें तो बड़ा अनुग्रह है कि जिस वस्तुसे मैं प्रेम करता हूँ, उससे वह भी करता है। वह कभी हमारे कपड़ेको पुराना देखे और बदलकर नया कपड़ा पहना दे तो यह उसकी कृपा है, यह तो वात्सल्य है।

तो ईश्वर इस संसारमें जीवोंके प्रति जो कुछ कर रहा है, वह उसका अनुग्रह है। जिसका मत ईश्वरके मतसे मिला हुआ है, वह उसकी कृपाका अनुभव कर सकता है। ईश्वरके साथ तुम ऐसा बोल सकते हो कि नहीं कि 'जो थारी राय सो म्हारी राय!' जो तुम्हारी राय है सो हमारी राय है, जो तुम्हारा मत है सो हमारा मत है। जो तुम्हारी स्थिति है, सो हमारी स्थिति है। देखो, इसमें कितनी शान्ति है। और, तब दिखेगा-'**यतो यतो निवर्ततेविमुच्यते ततस्ततः**'-जहाँ-जहाँसे निवृत्ति हो रही है, वहाँ-वहाँसे निवृत्त होकर हम भगवान्की गोदमें पहुँचते जा रहे हैं।

महात्माने बताया, 'तत्तेनुकम्पां सुसमीक्षमाणः'-तुम अपनी रहनी ऐसी बनाओ कि जो कुछ ईश्वरकी ओरसे आता है, उसमें '**मासूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम्**'-श्रीमद्भागवतमें यह प्रसंग आया कि तुम अप्रमेयमें असूया मत करो। शब्द देखो क्या बढ़िया है? 'असूया' माने गुणमें दोष निकालना। '**गुणेषु दोषाविष्करणं असूया**'। परमेश्वर जो कुछ कर रहा है, उसके गुणमें दोष मत निकालो बेटा!

स देवो यदेव कुरुते तदेव मङ्गलाय।

जहाँ हमें ईश्वरमें कठोरता भासती है वहाँ ईश्वरका दोष नहीं है, समझका दोष है।

तो 'सुसमीक्षमाणः'का अर्थ हुआ कि हर क्षणमें, हर कणमें, हर तृणमें, ईश्वरका जो सच्चिदानन्द स्वरूप, उसका जो अनुग्रह, उसकी जो उदारता, उसकी जो सुशीलता प्रकट हो रही है, उसका अनुसन्धान करें।

भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकं।

जैसी गर्मी-सर्दी आवे-स्वीकार करो। मोटरसे चलते हैं तो कहीं सड़क अच्छी पड़ती है तो कहीं खराब पड़ती है। परन्तु, उसको पार कर जाते हैं। कभी दिन आता है, कभी रात आती है-उसको पार कर जाते हैं। सृष्टिमें कभी अनुकूल होता है, कभी प्रतिकूल होता है-उसको पार कर जाते हैं। नारायण, जो भी कर्मका फल सामने आवे, उसको सिर झुकाकर, हाथ जोड़कर भगवान्‌का दिया हुआ वरदान समझकर भोगते जाओ।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते

भगवान्‌को नमस्कार करो।

कैसा नमस्कार करें? 'हृद्वाग्वपुभिः'-हृदय भगवान्‌के सामने झुका दो, वाणी भगवान्‌के सामने झुका दो और शरीर भगवान्‌के सामने झुका दो। तुम्हारे बारेमें जो कहा जाय सो कहा जाने दो। शरीरके बारेमें जो होए सो होने दो। और, अपने हृदयको विनयावनत करके ईश्वरकी शरणमें करके रखो।

असलमें ईश्वरके अनुग्रहके अनुभवमें यदि कुछ प्रतिबन्धक है तो वह अपना अभिमान ही प्रतिबन्धक है। जहाँ निरभिमान होकर ईश्वरके चरणोंमें गिरे, जहाँ उनकी शरण ग्रहण की, वहाँ सारे प्रतिबन्ध निवृत्त हो गये। और, असलमें ईश्वरका अनुग्रह इतना शक्तिशाली है, प्रभावशाली है कि सारे प्रतिबन्धकोंको भी वही दूर करता है। अपने प्रयत्नसे प्रतिबन्ध भी दूर नहीं होते।

जब द्रवहिं दीनदयाल राघव साधु संगति पाइहै।
बिनु हरिकृपा मिले नहीं संता।

वही अनुग्रह करके, वही कृपा करके ऐसा विचार देता है, ऐसी प्रेरणा देता है, ऐसी संगति देता है, ऐसा अवसर देता है कि हम प्रतिबन्धोंसे पार हो जाँय और उसके अनुग्रह की गंगाकी धारामें डूबने-उतराने लगे। परंतु, मनुष्यको यह अभ्यास पड़ गया है कि जबतक कुछ करेंगे नहीं, तबतक पावेंगे कैसे? इसको कर्ममल मानते हैं।

भक्ति-सिद्धान्तमें तीन प्रकारका मल मानते हैं।

1. ऐसा मानना कि मैं पापी-पुण्यात्मा हूँ—यह कर्ममल है। जब कर्ता नहीं होंगे, तब पापी-पुण्यात्मा कहाँसे होंगे?

2. अकर्तामल या माया मल होता है। यह क्या होता है? किसीने आकर बताया कि अरे तुम कर्ता नहीं हो, तुम द्रष्टा हो। तो समझते-बूझते तो नहीं हो। अनुभव तो नहीं है। पर, मैं द्रष्टा हूँ, मैं द्रष्टा हूँ—एक मानसिक कर्म करने लगते हैं। तो जो मानसिक कर्म करने लगते हैं कि मैं द्रष्टा हूँ, वे द्रष्टा कहाँ हुए? वे तो कर्ता ही रहे। ये किसीकी मायामें आ गये, किसीकी मायामें फँस गये। यह मायाका चक्कर है।

3. आणव-मल होता है—परमात्माकी प्राप्तिके बिना स्वातन्त्र्य बरतना।

भक्ति-सिद्धान्तमें इन तीनों मलका वर्णन आता है। अपनेको कर्ता मानना-यह कर्म-मल है। अपनेको अकर्ता मानना-माया-मल है। और, अपनेको उच्छृंखल, स्वतन्त्र मानना-यह आणव-मल है। जब

कि हम खड़े होनेके लिये मिट्टीके पराधीन हैं। जीनेके लिये पानी और अन्नके पराधीन हैं। टेम्परेचर शरीरमें बना रहे, इसके लिये सूर्य और अग्नि आदि के पराधीन हैं। साँस लेनेके लिये वायुके पराधीन हैं। घूमनेके लिये आकाशके पराधीन हैं। और, हमारे विचार समष्टिके पराधीन हैं। हमारे संस्कार प्रकृतिके पराधीन हैं माने, विकारके साथ हैं। जीव ईश्वरके पराधीन हैं। इसमें जब हम उच्छृङ्खल बन बैठते हैं तो मन हमको घेर लेता है।

तो नारायण, भक्तिके मार्गमें यदि चलना है तो नौ बात अपने जीवनमें आनी चाहिए। उनका ध्यान रखना चाहिए। संक्षेपमें उनका उद्देश्य-मात्र बताता हूँ।

1. कोई कितना भी अपराध करे, अपने चित्तको क्षुब्ध नहीं करना। अपने हृदयमें शान्ति बनी रहे।

शान्ति तो निर्निमित्त भी होती है। परन्तु, अशान्तिके निमित्त होने पर भी यदि हृदयमें शान्ति रहे तो उसको क्षान्ति कहते हैं। शान्ति और क्षान्तिमें क्या फर्क है? अशान्तिके निमित्त होनेपर भी, निमित्तसे संघर्ष न करके, लड़ाई न करके शान्त रहना ही क्षान्ति है। एक आदमी चाहता था कि इनका यज्ञ पूरा न हो। तो उसने लाकर वहाँ एक कीड़ा फेंक दिया। अब यजमान उठकर दौड़े कि मारेंगे इसको। तो यजमानका इष्ट पूरा हुआ कि विघ्न डालनेवालेका इष्ट पूरा हुआ? विघ्न डालनेवालेका इष्ट पूरा हुआ। यजमानने स्वयं बेवकूफीसे अपने दुश्मनका मनोरथ पूरा कर दिया।

तो संसारमें जितने भी विक्षेपके कारण आते हैं, वे एक बाहरी स्तर पर होते रहते हैं। अपने हृदयमें उनसे द्वन्द्व नहीं करना। क्षान्ति रखना। भक्तिकी यह पहली बात है।

2. समय व्यर्थ न जाने पावे। प्रत्येक समयको भगवान्की सेवामें लगाना। क्योंकि, भगवान्की सेवाके सिवाय और जो कुछ है, वह व्यर्थ जाता है।

सा हानि तन्महच्छिन्द्रं सा कान्ध जड़मूढ़ता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेद्।।

भगवान्‌के चिन्तनसे रहित जो क्षण है, वह व्यर्थ गया। सो अपने समयको व्यर्थ नहीं गँवाना।

3. दुनियामें राग-द्वेष नहीं करना।

देखो, द्वेष तो कड़वा जहर है और राग मीठा जहर है। एक मधु है, एक कैटभ है। एक आदमीसे हो गयी दुश्मनी। तो जहाँ हम भगवान्‌का ध्यान करते थे, वहाँ उसीका ध्यान होने लगा। एक स्त्रीको अपने पतिका ध्यान करना था-लेकिन उसको सौतकी याद आगयी तो जलने लग गयी सौतकी यादमें। पतिका ध्यान तो छूट गया। तो वह पातिव्रतसे तो वंचित हो गयी, भले सौतको वह नुकसान पहुँचा दे। नारायण, सच पूछो तो उसका भी तो नुकसान हुआ। क्योंकि उसका प्यारेका चिन्तन ही छूट गया। तो जिस दुश्मनको हम गाँवमें भी नहीं रहने देना चाहते, धरती पर भी नहीं रहने देना चाहते, उस दुश्मनको अपने दिलमें लाकर बसाना-यह द्वेष करनेवालोंकी बुद्धिका नमूना है। जब द्वेष करोगे तो तुम्हारे ही दिलमें आग जलेगी।

तो नारायण, राग-द्वेषसे रहित हृदयमें ईश्वरके सान्निध्य, प्रेम एवं स्वरूपका अनुभव होता है।

4. वाणीसे जितना भी व्यवहार होता है, उसमें सावधान रहना चाहिए। क्योंकि, तुम्हारा प्यारा प्रभु तो सबके हृदयमें रहता है। अतः झूठ, चुगली, गाली, निन्दा, कटु, हानिकारक, अधिक विवादास्पद, ऊँचे स्वरसे अनवसर वाणीका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

5. शरीरसे कुछ-न-कुछ कर्म होता ही रहता है। बस इतना ही ध्यान रखा जाये कि अपने कर्मके द्वारा किसीको दुःख न पहुँचे।

6. दूसरेके हककी वस्तु अपने पास न पहुँचे।

7. परस्त्री या परपुरुषका सम्बन्ध न बने। फिर तो सबमें ईश्वरबुद्धि करके व्यवहार किया जा सकता है।

8. भगवान्‌के नामका जप-कीर्तन कम-से-कम 15 मिनट अवश्य करें।

9. मन कृष्णके चिन्तनमें। कोई चिन्ता नहीं। सब जगह उनका हाथ है। सब कुछ उनकी आँखोंके सामने ही है। वे प्रसन्न हैं। उनकी कृपा एवं प्रीतिसे स्वयंको सर्वदा सराबोर रखें। यह इतनी सी बात है जिसके कारण संसारमें किसी बातका भय नहीं लगता। जो होना हो सो हो जाय, जो कोई कुछ कहे सो कह ले। मैं तो अपने श्यामको अपने हृदयमें बैठाकर निर्द्वन्द्व हूँ। अन्तमें भक्तिमार्गमें इस स्थिति तक पहुँचना अवश्यम्भावी है। तब सर्वत्र, सर्वदा आनन्द-ही-आनन्द है।

भक्तिका चमत्कार

एक चमत्कारकी बात सुनाते हैं। जैसे किरणोंका वक्री-भवन होता है—जलमें सूर्यकी किरणें पड़ती हैं और उनका वक्रीभवन होकर इन्द्र-धनुष दिखता है माने सूर्यकी किरणें कोई लाल, कोई पीली, कोई हरी दिखती हैं। इसी प्रकार जब हम अपने मनको भगवान्‌की ओर लगाने लगते हैं और हमारी वृत्तियोंका वक्रीभवन होता है तो तरह-तरहके रूप दिखायी पड़ने लगते हैं, तरह-तरहके रंग दिखायी पड़ने लगते हैं। नदी दिखती है, पर्वत दिखता है, चन्द्रमा दिखता है, सूर्य दिखता है, ग्रह-नक्षत्र दिखते हैं, तारे दिखते हैं तो मनुष्यको विश्वास होता है कि जितना हम इन आँखोंसे देखते हैं, उससे परे भी है।

वह क्या है? इसके लिए आइये पढ़ते हैं—भक्तिका चमत्कार।

आनन्द कानन प्रेस
टेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337